(६) नकुलीश-पाशुपत-दर्शनम्

कार्यं कलादि किल कारणमीश्वरोऽसौ
योगस्तयोर्विधिरथापि जपादिरूपः ।
दुःखान्त इत्यविहतं विहितं प्रपञ्चं
वन्दे तमादिशति पाशुपतं मतं यः ॥—ऋषिः ।

(१. वैष्णव-दर्शनों में दोष)

तदेतद्वैष्णवमतं दासत्वादिपदवेदनीयं परतन्त्रत्वं, दुःखावहत्वान्न दुःखान्तादीप्सितास्पदम् इत्यरोचयमानाः, पारमैश्वर्यं कामयमानाः, 'पराभिमता मुक्ता न भवन्ति, परतन्त्रत्वात् , पारमैश्वर्यरहितत्वात् , अस्मदादिवत्', 'मुक्तात्मानश्च परमेश्वरगुणसंबन्धिनः, पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात्परमेश्वरवत्'—इत्याद्यनुमानं प्रमाणं प्रतिपद्यमानाः, केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थसाधनं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयन्ते ।

वैष्णवों का यह मत तो परतन्त्रता का ही दूसरा नाम है जिसका बोध दासत्वादि शब्दों के द्वारा होता है, [किसी का दास होना] सचमुच बहुत दुःखकर है, इसमें दुःख का अन्त नहीं होता इसलिए यह कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता [क्योंकि जब परतन्त्रता रह ही गई, विष्णु के दास ही बने रह गये, तब मुक्ति किस काम की ?]—इस प्रकार माहेश्वर-सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिकों को यह मत अच्छा नहीं लगता । वे लोग [मुक्त होने पर साक्षात्] परमेश्वर ही बन जाने की कामना करते हैं । वे निम्नोक्त प्रकार से दिये गये अनुमान को प्रमाण मानते हैं—

(१) इन प्रतिपक्षियों के द्वारा वर्णित मुक्त पुरुष वास्तव में मुक्त नहीं हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि मुक्त होने पर भी ये परतन्त्र हैं या इनमें परमेश्वरता (अन्तिम ऐश्वर्य) का अभाव है (हेतु), जैसे हम लोगों के समान बद्धजीव होते हैं (उदाहरण) ।

(२) मुक्त आत्मायें वे ही हैं जिनमें परमेश्वर की तरह ही गुण हों (प्रतिज्ञा) क्योंकि पुरुषत्व होने पर भी ये सारे दुःखों के कारणों से रहित हैं (हेतु), जिस प्रकार साक्षात् परमेश्वर होते हैं (उदाहरण) ।

ये माहेश्वर-सम्प्रदाय वाले परम पुरुषार्थ का साधन पाशुपत-शास्त्र को ही मानते हैं जिसमें पाँच पदार्थों का विस्तार किया जाता है।

विशेष—वैष्णव-दर्शन में मुक्त पुरुष को ईश्वर का दास का रूप देते हैं। मुक्त होने पर भी दासता ही रह गई तो मुक्ति का अर्थ ही क्या रहा ? मुक्ति तो वह है जो सर्वोच्च पद पर पहुँचा दे। इसलिए माहेश्वर-दर्शन में मुक्त को साक्षात् ईश्वर ही माना जाता है।

माहेश्वर-सम्प्रदाय में बहुत से अवान्तर भेद हैं। धार्मिक दृष्टि से इनके चार भेद हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक जिनके मूलग्रन्थ शैवागम कहलाते हैं। यह आगम वैदिक और अवैदिक दोनों है। माहेश्वर-सम्प्रदाय में दार्शनिक दृष्टिकोण से भी चार भेद हैं—पाशुपतदर्शन (जिसका प्रचार गुजरात और राजपूताना में था), शैवदर्शन (तामिल देश में), वीरशैवदर्शन (कर्नाटक) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक या स्पन्द (काश्मीर)। पाशुपत-दर्शन के संस्थापक नकुलीश (या लकुलीश) थे। शिवपुराण में 'कारवण-माहात्म्य' से पता चलता है कि भृगुकच्छ के पास कारबन नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। नकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना और गुजरात में बहुत मिलती हैं। इन मूर्तियों में सिर केश से ढँका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर का फल तथा बायें में लगुड़ (लाठी) रहता है। लगुड़ धारण करने के कारण ही इन्हें लगुडेश >लकुलीश >नकुलीश कहते हैं। भगवान् शंकर के १८ अवतारों में लकुलीश प्रथम हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका समय विक्रम संवत् के आरम्भ होने के समय का है। पाशुपतों और न्यायवैशेषिक में घना सम्बन्ध है। गुणरत्न ने तो नैयायिकों को शैव तथा वैशेषिकों को पाशुपत कहा भी है। भारद्वाज उद्योतकर (न्यायवार्तिक के रचयिता) अपने को 'पाशुपताचार्य' कहते हैं। पाशुपतों का मूल सूत्रग्रंथ 'माहेश्वररचित पाशुपतसूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में कौण्डिन्यरचित 'पञ्चार्थी-भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ है जिसे राशीकरभाष्य या कौण्डिन्यभाष्य भी कहते हैं।

पाशुपत-दर्शन की मूल भित्ति पांच पदार्थों—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त—के विवेचन पर आधारित है। इनका विवरण हमें आगे प्राप्त होगा। शैवदर्शन के सांगोपांग विवेचन के लिए देखें—डा० यदुवंशी का प्रबन्ध-ग्रन्थ 'शैवमत' (वि० राष्ट्र० परि० पटना से प्रकाशित)।

'पाशुपत' शब्द पशुपति (= शिव) से बना है। पशु सभी प्राणियों को कहते हैं। लिङ्गपुराण में कहा है—

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः ॥

जिस प्रकार हमारे लिए गाय, भैंस आदि पशु हैं उसी प्रकार महेश्वर के लिए सारे प्राणिमात्र पशु हैं क्योंकि सबों में ज्ञान का अभाव है, पशु की तरह आचरण है। इन पशुओं के पति महादेव हैं, अतः वह वे पशुपति कहलाते हैं। जीवों की परवशता पर शेक्सपीयर का कहना है—

Like flies to the wanton lads, we are all to the gods,
They kill us for their sport.

'चंचल बालकों के लिये मक्खियों का जो महत्त्व है वही देवताओं के लिए हमारा है। वे खेल-खेल में हमें मार डालते हैं।' किन्तु शिव का कल्याणकारी रूप भी है।

(२. पाशुपत-सूत्र की व्याख्या—गुरु का स्वरूप)

तत्रेदमादिसूत्रम्—'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्याम' इति। अस्यार्थः—अत्राथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षः। पूर्वप्रकृतश्च गुरुं प्रति शिष्यस्य प्रश्नः। गुरुस्वरूपं गणकारिकायां निरूपितम्—

१. पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्त्ता गुरुरुच्यते ॥
२. लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥

'तिस्रो वृत्तयः' इति प्रयोक्तव्ये 'त्रीणि वृत्तयः' इति च्छान्दसः प्रयोगः।

उस (पाशुपत-शास्त्र) का यह पहला सूत्र है—'अब इसलिए पशुपति के पाशुपतशास्त्र के योग और विधि की व्याख्या करेंगे।' इसका अर्थ इस प्रकार है—यहाँ 'अथ' शब्द पहले के कुछ प्रसंग का द्योतक है। पहले का कुछ प्रसंग यही है कि गुरु के प्रति शिष्य का प्रश्न हो चुका है। [प्रश्न यही है कि त्रिविध दुःखों का सर्वथा विनाश कैसे हो ? यह दुःखान्त के विषय का प्रश्न है।] गुरु का स्वरूप गणकारिका में निश्चित किया गया है—'आठ पंचक (पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त गण) जानने योग्य हैं और एक गण तीन अवान्तर भेदों का है। इन नव गणों का ज्ञाता और जो संस्कार करनेवाला हो वह गुरु कहलाता है ॥ १ ॥ लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और

बल ये आठ पंचक (प्रत्येक के पाँच भेद) हैं। वृत्तियाँ (कार्य) तीन हैं ॥२॥ मूलश्लोक में 'तिस्रो वृत्तयः' (दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द) का प्रयोग करना चाहिए किन्तु 'त्रीणि (नपुं०) वृत्तयः (स्त्री०)' प्रयोग है यह वैदिक व्यत्यय का उदाहरण है। ['व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) में लिङ्ग का व्यत्यय]।

विशेष—नव गणों का ज्ञाता गुरु है। इन गणों में प्रथम आठ पंचक (Pentads) हैं अर्थात् इनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच अवान्तर भेद हैं। नवें गण को त्रिक कहते हैं क्योंकि इसके तीन ही भेद हैं। इनकी गणना करें—

(१) **लाभ** (Acquisition)—ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि।

(२) **मल** (Impurity)—मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्तिहेतु, च्युति, पशुत्वमूल।

(३) **उपाय** (Expedient)—वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रपत्ति।

(४) **देश** (Locality)—गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र।

(५) **अवस्था** (Perseverence)—व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान, निष्ठा।

(६) **विशुद्धि** (Purification)—प्रत्येक मल की हानि, जैसे मिथ्याज्ञानहानि, अधर्महानि आदि।

(७) **दीक्षाकारिन्** (Initiation)—द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरु।

(८) **बल** (Power)—गुरुभक्ति, बुद्धिप्रसाद, द्वन्द्वजय, धर्म, अप्रमाद।

(९) **वृत्ति** (Functions) = जीविकोपाय—भिक्षा, उत्सृष्टग्रहण, यथालब्धग्रहण। इन गणों का संक्षिप्त वर्णन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

तत्र विधीयमानमुपायफलं लाभः। ज्ञानतपोनित्यत्वस्थितिशुद्धिभेदात्पञ्चविधः। तदाह हरदत्ताचार्यः—

ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः शुद्धिश्च पञ्चमम्।

आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। स मिथ्याज्ञानादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

३. मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः* ॥

(गणकारिका, ८) इति।

---

* हेयाधिकारतः—इति क्वचित्पाठः।

(१) उपाय के फलों को प्राप्त करने का नाम **लाभ** है। ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि के भेद से पाँच प्रकार का है, जैसा कि हरदत्ताचार्य कहते हैं—'ज्ञान, तपस्या, नित्यता, स्थिति (धैर्य) और पाँचवाँ शुद्धि (स्वच्छता, पवित्रता)-ये लाभ हैं।'

(२) आत्मा में अवस्थित दुष्ट भावों (Condition) को **मल** कहते हैं। मिथ्याज्ञान आदि के भेद से वह पाँच प्रकार का है। यह भी कहा है—'मिथ्याज्ञान, अधर्म (Demerit), सक्तिहेतु (Causes of Attachment), च्युति (सदाचार से भ्रष्ट होना) और पशुत्वमूल (जीव प्राप्त करने के अनादि संस्कार), इन पाँच मलों को तन्त्र में (इस शास्त्र में) विवेक द्वारा त्यागना चाहिए।'

साधकस्य शुद्धिहेतुरुपायो वासचर्यादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

४. वासचर्या जपो ध्यानं सदा रुद्रस्मृतिस्तथा।
प्रपत्तिश्चेति लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः॥ इति।

येनार्थानुसंधानपूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः। यदाह—

५. गुरुर्जनो गुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च। इति।

(३) साधक की शुद्धि के कारणों को **उपाय** कहते है जिसके वासचर्या आदि पाँच भेद हैं। इसे भी कहा है—वासचर्या (अच्छी तरह निवास करने के नियम), जप, ध्यान, रुद्र का सदा स्मरण करना और प्रपत्ति (शरणागति)—ये लाभों के उपाय निश्चित किये गए हैं। [वासचर्या आदि पाँच प्रकार की शुद्धि करके साधक पाँच लाभों को प्राप्त करता है। उपाय=लाभ के उपाय, लाभ=उपाय के फलों की प्राप्ति]।

(४) जिनके पास रहकर अर्थों (=कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त) का अनुसन्धान करते हुए [साधक] ज्ञान और तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है वह **देश** है जैसे गुरु, जन आदि। उसे कहा है—गुरु, जन (ज्ञानियों की सभा), गुहा-देश (गुफा, एकान्त स्थान), श्मशान तथा रुद्र। [इनके पास रहकर साधक ज्ञान की वृद्धि करता है (गुरु और जन के साथ), तथा तपस्या की भी वृद्धि करता है (अवशिष्ट तीनों के साथ)]।

आ लाभप्राप्तेरेकमर्यादावस्थितस्य यदवस्थानं सावस्था व्यक्तादिविशेषणविशिष्टा। तदुक्तम्—

व्यक्ताऽव्यक्ता जया दानं निष्ठा चैव हि पञ्चमम्। इति।

मिथ्याज्ञानादीनामत्यन्तव्यपोहो विशुद्धिः। सा प्रतियोगिभेदात्पञ्चविधा। तदुक्तम्—

६. अज्ञानस्याप्यधर्मस्य हानिः सङ्गकरस्य च।
च्युतेर्हानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता॥ इति।

(५) लाभ की प्राप्ति पर्यन्त जब साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति अवस्था कहलाती है जिसमें व्यक्त आदि विशेषण लगाते हैं [तथा पाँच प्रकार की होती है]। यह कहा है—व्यक्तावस्था (जब किसी साधक के उपाय अनुष्ठान आदि प्रकाशित हों, लोगों की स्तुति-निन्दा की चिन्ता न रहे), अव्यक्तावस्था (जब साधक सब गुप्त रूप से करे), जयावस्था (मन और इन्द्रियों की विजय करके अवस्थित रहना), दानावस्था (सब कुछ त्याग देना) और निष्ठावस्था (महेश्वर में सदा अविच्छिन्न भक्ति रखना), यह पाँचवीं है।

(६) मिथ्याज्ञान आदि का बिलकुल (सर्वथा) विनाश हो जाना विशुद्धि है। प्रतियोगियों (जिनका विनाश होता है, Partner, Competitor) के पाँच भेद होने के कारण यह भी पाँच प्रकार की है। [मल पाँच प्रकार के हैं, उनमें प्रत्येक का विनाश करना अभीष्ट है, इसलिए इस विशुद्धि के पाँच भेद हैं।] कहा है—अज्ञानहानि, अधर्महानि, आसक्तिहेतु की हानि, च्युतिहानि और पशुत्वहानि—शुद्धि पाँच प्रकार की मानी गयी है।

दीक्षाकारिपञ्चकं चोक्तम्-

७. द्रव्यं कालः क्रिया मूर्तिर्गुरुश्चैव हि पञ्चमः। इति।

बलपञ्चकं च-

८. गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम्॥ इति।

पञ्चमल-लघूकरणार्थमागमाविरोधिनोऽन्नार्जनोपाया वृत्तयो भैक्ष्योत्सृष्टयथालब्धाभिधा इति। शेषमशेषमाकर एवावगन्तव्यम्।

(७) पाँच **दीक्षाकारियों** (दीक्षा के तत्त्वों Aspects of initiation) का कथन हुआ है—द्रव्य (दीक्षा के समय उपयोगी वस्तुएँ), काल (शुभ मुहूर्त, दीक्षा के योग्य समय), क्रिया (गुरुसेवनादि, दीक्षा की विधियाँ), मूर्ति (देवप्रतिमा) और गुरु, यह पाँचवाँ है।

(८) पाँच **बल** हैं—गुरुभक्ति, बुद्धि की निर्मलता, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों पर विजय, धर्म और अप्रमाद (सावधान रहना), इस तरह बल पाँच प्रकार का माना गया है।

(९) पाँच मलों को क्षीण (कम) करने के लिये, आगमों (शास्त्रों) के विरुद्ध नहीं जाने वाले (शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले) पुरुषों के अन्नार्जन (जीविका-निर्वाह) के उपायों को **वृत्ति** कहते हैं। [पाँच मलों का विनाश वासचर्या आदि उपायों से होता है। किन्तु किसी भी वस्तु का तुरत विनाश कर देना सम्भव नहीं है अतः पहले इन्हें कम करते हैं। इसी में वृत्तियाँ काम देती हैं जो तीन हैं—] भिक्षा में मिले हुए अन्न पर निर्वाह करना, लोग जिसे छोड़ दें उसे ग्रहण करना (उत्सृष्ट) तथा जो मिल जाय उसे ही लेना। (यहाँ ध्येय है कि इन सभी पदार्थों का ग्रहण करते समय शास्त्र के विरोध पर भी ध्यान दिया जाता है, नहीं तो कीटादि-दूषित अन्न या नीचादि व्यक्तियों से मिला अन्न भी ग्राह्य ही होगा। शास्त्र इस प्रकार के अन्न का विरोध करते हैं अतः इन्हें लेना वृत्ति नहीं है।) अवशिष्ट सारी बातें आकर-ग्रंथों से ही जाननी चाहिएँ।

विशेष—प्रथम सूत्र में स्थित 'अर्थ' शब्द की व्याख्या में ही गुरु के द्वारा ज्ञातव्य इन नव गणों का उल्लेख कर दिया गया है। अब दूसरे शब्द 'अतः' की व्याख्या में दुःखान्त का, 'पशु' के द्वारा कार्य का, 'पति' के द्वारा कारण का तथा 'योग' और 'विधि' का स्वतंत्र रूप से विचार होगा, इस प्रकार पाँचों पदार्थों का वर्णन हो जायगा।

(२ क. सूत्र के अन्य शब्द—अतः, पति आदि)

अतःशब्देन दुःखान्तस्य प्रतिपादनम्। आध्यात्मिकादि-दुःखत्रयव्यपोहप्रश्नार्थत्वात्तस्य। पशुशब्देन कार्यस्य। परतन्त्र-वचनत्वात्तस्य। पतिशब्देन कारणस्य। 'ईश्वरः पतिरीशिता' इति जगत्कारणीभूतेश्वरवचनत्वात्तस्य। योगविधी तु प्रसिद्धौ।

'अतः' (इसलिए) शब्द के द्वारा दुःखान्त का प्रतिपादन होता है क्योंकि इस शब्द से आध्यात्मिक आदि तीन दुःखों के विनाश के लिए प्रश्न करना व्यक्त

होता है। [जब शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि दुःखान्त कैसे हो तब उसका उत्तर देने के लिए गुरु तैयार हुए और बोले—'इसलिए'''। अब यहाँ 'इसलिए' के द्वारा 'दुःखान्त के लिए' का बोध हो गया। पाँच पदार्थों में दुःखान्त भी एक है। जिसकी ध्वनि प्रथम सूत्र में मिलती है। यही नहीं, अन्य पदार्थ भी इस सूत्र से ध्वनित हो जाते हैं।]

'पशु' शब्द के द्वारा **कार्य** का प्रतिपादन होता है क्योंकि वह (पशु या कार्य) परतंत्र होता है। [पशु पति के वश में रहता है और कार्य कारण के अधीन है इस समानता से दोनों की एकरूपता सिद्ध हो जाती है।] 'पति' शब्द से **कारण** का बोध होता है क्योंकि 'ईश्वर शासन करने वाला पति है' इस वाक्य में संसार के कारणस्वरूप ईश्वर का वर्णन है। [पति शब्द से ईश्वर का बोध होता है और ईश्वर संसार का कारण है। अतः पति के द्वारा कारण की ध्वनि निकलती है।] **योग** और **विधि** तो अपने आप में स्पष्ट है (शब्दों से ही व्यक्त हैं)।

विशेष—पाशुपत-दर्शन में कहे गये पाँचों पदार्थों का प्रतिपादन प्रथम सूत्र के द्वारा ही हो गया है। सूत्र का अर्थ है कि शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में गुरु दुःखान्त की सिद्धि के लिए महेश्वर के द्वारा प्रतिपादित महेश्वर की प्राप्ति के लिए जो योग (Union) है उसकी विधि बतलाते हैं। इस प्रकार पाशुपत शास्त्र के आरम्भ की यह प्रतिज्ञा है। पशु के द्वारा कार्य, पति के द्वारा कारण, अतः के द्वारा दुःखान्त—इस प्रकार इन तीन पदार्थों की ध्वनि है; योग और विधि तो शब्दों से ही स्पष्ट हैं।

सभी परतन्त्र पदार्थों (पशु, मनुष्य, द्रव्य) को पशु कहते हैं। जिस प्रकार पशु अपने स्वामियों के अधीन होते हैं उसी प्रकार ये पारिभाषिक 'पशु' भी अपने पति (ईश्वर) के अधीन हैं। चिदात्मक या अचिदात्मक, सभी पदार्थ पशु (कार्य) हैं जिनका कारण स्वतंत्र परमेश्वर है। परतन्त्र सदा स्वतन्त्र के अधीन रहता है। जप, ध्यान आदि को योग कहते हैं और भस्मलेपन, स्नान आदि के व्रत विधि हैं। दुःख से निवृत्त होने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति करना दुःखान्त है। ये ही पाँच तत्त्व हैं क्योंकि परम पुरुषार्थ के साधन हैं। **तत्त्व वही है जिसका ज्ञान परम-पुरुषार्थ का साधन हो।** प्रस्तुत दर्शन में इन पाँचों का ज्ञान उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। पंचम तत्त्व (दुःखान्त) तो परम-पुरुषार्थ के रूप में ही है अतः उसका ज्ञान तो आवश्यक है ही; दुःख के बीज के रूप में अस्वतंत्र (कार्य, पशु) को जानना भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसीकी निवृत्ति करनी है। ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र ईश्वर (कारण, पति) को जानना

अनिवार्य है, यह कौन अस्वीकार करेगा ? ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भस्म-स्नानादि विधि के साथ जप-ध्यानादि योग भी ज्ञेय हैं। इस प्रकार पाँचों का ज्ञान परमावश्यक है।

(३. दुःखान्त का निरूपण)

तत्र दुःखान्तो द्विविधः—अनात्मकः सात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुःखानामत्यन्तोच्छेदरूपः। सात्मकस्तु दृक्क्रियाशक्तिलक्षणमैश्वर्यम्। तत्र दृक्शक्तिरेकापि विषयभेदात्पञ्चविधोपचर्यते—दर्शनं श्रवणं मननं विज्ञानं सर्वज्ञत्वं चेति।

इनमें दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक। अनात्मक (Impersonal) दुःखान्त उसे कहते हैं जिसमें सभी दुःखों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाय [इसके बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो]। सात्मक (Personal) दुःखान्त वह है जिसमें दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त (लक्षित) ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो। दृक्शक्ति (बुद्धि या ज्ञान की शक्ति) यद्यपि एक है किन्तु विषयों (Objects) की विभिन्नता के कारण पाँच प्रकार से व्यक्त की जाती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान (विवेचन) और सर्वज्ञता। [अब इनमें प्रत्येक की परिभाषा बतलाई जायगी।]

तत्र सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टाशेष-चाक्षुष-स्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानम्। स्वशास्त्रं येनोच्यते। उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वमिति। एषा धीशक्तिः।

दर्शन उस ज्ञान-शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों (नेत्र सम्बन्धी जैसे रूप और तदाश्रित द्रव्य), स्पर्श सम्बन्धी विषयों, [रस सम्बन्धी विषयों और घ्राण सम्बन्धी विषयों] का ज्ञान होता है चाहे वे विषय कितने ही सूक्ष्म हों (परमाणु आदि) या किसी वस्तु के द्वारा व्यवहित (Intervened) हों या दूर पर स्थित हों। [बद्ध जीव सभी चाक्षुष, स्पार्शनादि विषयों को नहीं जान सकते, वे दूरस्थ, व्यवहित या सूक्ष्म पदार्थों को भी नहीं जान सकते किन्तु मुक्त पुरुषों में यह ऐश्वर्यशक्ति आ जाती है कि वे ईश्वर की

तरह इन सारे विषयों की जानकारी कर सकते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वे नहीं जान पाते।] सभी शब्दों के विषय में (सूक्ष्म, दूरस्थ या पशु-पक्षी आदि के द्वारा किये गए शब्द) सिद्धि के रूप में उत्पन्न ज्ञान को **श्रवण** कहते है। [यद्यपि श्रवण दर्शन में अन्तर्भूत हो सकता है पर तत्त्वज्ञान में इसकी विशेष उपयोगिता होने के कारण इसे पृथक् रखा गया है। इसमें सिद्धि अर्थात् योगादि साधनों से उत्पन्न एक विशेष शक्ति के द्वारा ज्ञान होता है।] जिन-जिन विषयों का चिन्तन संभव है उन सबों का केवल चिन्तन करते ही [बिना शास्त्रादि देखे हुए ही] योग की सिद्धि द्वारा ज्ञान पा लेना **मनन** (Cogitation) कहलाता है। सिद्धि के द्वारा सभी शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और उसके अर्थ के साथ जान लेना **विज्ञान** है। [ग्रन्थ में इस तरह की पंक्ति है और उसका यह अर्थ है, यह जान लेना विज्ञान है।] इसी से अपने (पाशुपत) शास्त्र का प्रवचन होता है (शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या में विज्ञान ही उपयोगी है)।

[गुरु के द्वारा] उपदिष्ट या अनुपदिष्ट, सभी अर्थों (विषयों) में समास, विस्तर, विभाग और विशेष के द्वारा (इनका वर्णन इसी दर्शन में बाद में होगा) तत्त्व के रूप में संबद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि-ज्ञान को **सर्वज्ञत्व** कहते हैं। [यह वैसा ज्ञान है जो सदा उदित या प्रकाशित रहता है, कभी छिपता नहीं। तत्त्वों के रूप में यह सदा बँधा हुआ रहता है। बातें बतलाई गई हों या नहीं, सभी सर्वज्ञ को मालूम हो जाती हैं, वह भी संक्षिप्त (समास) विस्तृत, विश्लिष्ट (Analysed) तथा विशिष्ट (Specialised) रूप में। ज्ञान शक्ति की यहाँ पराकाष्ठा है।] यह (दृक्शक्ति) ज्ञान (बुद्धि intellect) की शक्ति है।

क्रियाशक्तिरेकापि त्रिविधोपचर्यते—मनोजवित्वं कामरूपित्वं विकरणधर्मित्वं चेति। तत्र निरतिशयशीघ्रकारित्वं मनोजवित्वम्। कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वेच्छया एवानन्त-सलक्षण-विलक्षण-स्वरूप-करणाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वम्। उपसंहृतकरणस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणधर्मित्वमिति। एषा क्रियाशक्तिः।

क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही होती है फिर भी परोक्षतः तीन प्रकार की कही जाती है—मन की तरह वेगवान् होना, इच्छा से रूप बदलना तथा विकरण (इन्द्रियादिहीन) होने पर भी ऐश्वर्य धारण करना (विकरणधर्मित्व)। मन

की तरह वेगवान् होने का अर्थ है कि इतनी शीघ्रता से काम करें जिससे अधिक शीघ्र और कोई न करे। कर्मफल आदि से निरपेक्ष (पृथक्) होकर, केवल अपनी इच्छा से ही अनन्त सलक्षण (समान धर्मों वाले), विलक्षण (विभिन्न लक्षणों वाले) तथा सरूप (एक तरह के) करणों (शरीरों और इन्द्रियों) में अधिष्ठित होना ही कामरूपित्व (अपनी इच्छा से रूप बदलना) है। विकरणधर्मित्व वह है जब करणों के न होने पर (या संक्षिप्त होने पर) भी सर्वोच्च (निरतिशय) ऐश्वर्य से सम्बन्ध हो जाय। यह क्रिया की शक्ति है।

विशेष—अनात्मक दुःखान्त बिल्कुल निषेधात्मक (Negative) है क्योंकि इसमें केवल दुःख की निवृत्ति ही होती है। दुःख की निवृत्ति के बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति सात्मक दुःखान्त में होती है। ऐश्वर्य मिलने में भी दो प्रकार की शक्तियाँ मिलती हैं—दृक्शक्ति या जानने की शक्ति तथा क्रियाशक्ति या कार्य के रूप में दिखलाने की शक्ति। इनके क्रमशः पाँच और तीन भेद हैं। इस प्रकार दुःखान्त का निरूपण हुआ।

(४. कार्य का निरूपण)

अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं—विद्या कला पशुश्चेति। एतेषां ज्ञानात्संशयादिनिवृत्तिः। तत्र पशुगुणो विद्या। सापि द्विविधा—बोधाबोधस्वभावभेदात्।

बोधस्वभावा विवेकाविवेकप्रवृत्तिभेदाद् द्विविधा। सा चित्तमित्युच्यते। चित्तेन हि सर्वः प्राणी बोधात्मकप्रकाशानुगृहीतं सामान्येन विवेचितमविवेचितं चार्थं चेतयत इति।

जो कुछ भी अस्वतंत्र (परतंत्र) है वह सब कार्य कहलाता है। वह तीन प्रकार का है—विद्या, कला और पशु। [जीव-जड़-वर्ग अपने-अपने गुणों के साथ कभी स्वतन्त्र नहीं है। गुण अपने-अपने आश्रयों के अधीन हैं, जड़पदार्थ जीवों के अधीन हैं। जीवों में भी एक दूसरे की पराधीनता देखी जाती है—स्त्री पति के अधीन, नौकर अपने स्वामी के अधीन, प्रजा राजा के अधीन आदि। परमेश्वर के अधीन तो सभी हैं। पाशुपत-दर्शन में जीवों को पशु कहते हैं, जीवों के गुणों को **विद्या** और गुणसहित पृथिवी आदि जड़-द्रव्यों को **कला** कहते हैं।] इन (भेदों) के ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। इनमें पशुओं के गुण को विद्या (Sentiency) कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—बोधस्वभाव और अबोधस्वभाव वाली विद्या।

बोध स्वभाववाली या बोधात्मिका विद्या दो प्रकार की है क्योंकि उसमें विवेक या अविवेक की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इस बोधात्मिका विद्या को चित्त भी कहते हैं। चित्त के ही द्वारा सभी प्राणी बोधात्मक (वस्तुओं का ज्ञान करानेवाले) प्रकाश से अनुगृहीत (प्रकाशित) सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को जानता है (चेतयते, √चित् = जानना), चाहे वे वस्तुएँ विवेक प्रवृत्ति से पूर्ण हों या विवेक प्रवृत्ति से रहित। [जीवों में विषय का ज्ञान करने के लिए जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसी के रूप में जीव में अवस्थित एक विशेष गुण का ही नाम चित्त है। यह चित्त-गुण स्वयं बोधात्मक होने के कारण घट, पट आदि पदार्थों का बोध कराता है। जैसे सूर्य या दीपक स्वयं प्रकाशात्मक होने के कारण वस्तुओं का बोध कराते हैं उसी प्रकार चित्त के साथ भी यही बात है। चित्त नाम की यह प्रवृत्ति कभी विवेक से युक्त होती है कभी उससे रहित। अब इन दोनों की कृतियाँ व्यक्त होंगी।]

तत्र विवेकप्रवृत्तिः प्रमाणमात्रव्यङ्ग्या। पश्वर्थधर्माधर्मिका पुनरबोधात्मिका विद्या। चेतनपरतन्त्रत्वे सत्यचेतना कला। सापि द्विविधा—कार्याख्या कारणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा—पृथिव्यादीनि पञ्च तत्त्वानि, रूपादयः पञ्च गुणाश्चेति। कारणाख्या त्रयोदशविधा—ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, अध्यवसायाभिमानसंकल्पाभिधवृत्तिभेदाद् बुद्ध्यहंकारमनोलक्षणमन्तःकरणत्रयं चेति।

उनमें विवेक-प्रवृत्ति केवल प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त होती है। [इसके अतिरिक्त जो सामान्य या विवेक से रहित प्रवृत्ति है वह अतीन्द्रिय होती है। वह अपने साध्य अर्थात् सामान्यज्ञानात्मक फल से व्यक्त होती है। चित्त बोधात्मक है तथा अपने बोधरूप स्वभाव से घटादि पदार्थों को (जड़ होने पर भी इन्हें) व्यक्त कर देता है। यह चित्त-गुण बोधात्मक है अतः ज्ञान का साधन बन सकता है।].

अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म ये दोनों संस्कार रहें। [यह भी जीव का एक विशिष्ट गुण ही है किन्तु इसका उपयोग ज्ञान में कुछ नहीं। कारण यह है कि बोध कराना इसके स्वभाव में ही नहीं और ज्ञान बोध से ही होता है।]

चेतन के अधीन रहनेवाली **कला** स्वयम् अचेतन होती है। इसके भी दो भेद हैं—कार्य के रूप में कला (विषयरूपा कला) और कारण के रूप में कला

(इन्द्रियरूपा कला)। कार्याख्या कला दस प्रकार की होती है—पृथिवी आदि पाँच तत्त्व (Gross elements) और रूप आदि पाँच गुण (Subtle elements)। कारणाख्या कला के तेरह भेद हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Sense organs), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (Motor organs) तथा अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान (अनात्मा के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करना) और संकल्प नाम की तीन वृत्तियों (Functions) के भेद के कारण तीन प्रकार के अन्तःकरण—बुद्धि (Intellect), अहंकार (Ego) और मन (Cogitant Principle)।

विशेष—दस इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण कारण के रूप में (कारणाख्या) कला हैं क्योंकि ये विषयज्ञापन के कारण हैं। दूसरी ओर पाँच महाभूतों और उनके गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) को 'कार्य के रूप में कला' कहते हैं क्योंकि ये इन्द्रियों के कार्य हैं। विषय इन्द्रियों के अधीन हैं और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन—इस प्रकार ये दोनों प्रकार की कलाएँ आपस में एक दूसरे के अधीन हैं। चेतन के अधीन तो दोनों ही हैं। इस प्रकार की गणना सिद्ध करती है कि सांख्य-दर्शन का प्रभाव इन पर पर्याप्त मात्रा में है। सांख्य में इन दस और तेरह तत्त्वों के अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति मिलाकर कुल पचीस तत्त्व दिखलाये जाते हैं।

पशुत्वसंबन्धी पशुः। सोऽपि द्विविधः—साञ्जनो निरञ्जनश्चेति। तत्र साञ्जनः शरीरेन्द्रियसम्बन्धी। निरञ्जनस्तु तद्रहितः। तत्प्रपञ्चस्तु पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः।

पशुत्व (पुनर्जन्मादि गुण) जिसमें हों वह पशु है। यह भी दो प्रकार का है—साञ्जन (शरीर और इन्द्रियों से युक्त) तथा निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय से रहित)। साञ्जन वह है जिसे शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध हो। [जिस सम्बन्ध के द्वारा एक सम्बन्धी के धर्म दूसरे सम्बन्धी में भी समझे या कहे जाते हैं उस विशेष सम्बन्ध को अञ्जन कहते हैं। जीव में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध से स्थूलत्व काणत्व आदि धर्मों का वर्णन होता है अतः वह साञ्जन है।] निरञ्जन उस सम्बन्ध से रहित होता है। इनका विस्तार पञ्चार्थभाष्यदीपिका (राशीकरभट्ट के भाष्य पर टीका— लेखक अज्ञात) आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

(५. कारण और योग का निरूपण)

समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणम्। तस्यैकस्यापि गुणकर्मभेदापेक्षया विभागः उक्तः 'पतिः साद्यः' इत्यादिना।

तत्र पतित्वं निरतिशयदृक्क्रियाशक्तिमत्त्वं तेनैश्वर्येण नित्यसं-बन्धित्वम्। आद्यत्वमनागन्तुकैश्वर्यसंबन्धित्वम्—इत्यादर्शकारा-दिभिस्तीर्थकरैर्निरूपितम्।

सारी वस्तुओं की सृष्टि, संहार और अनुग्रह (कृपा) करनेवाले तत्त्व को कारण (ईश्वर) कहते हैं। यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों* की अपेक्षा रखने के कारण इसके विभाग (Kinds) भी कहे गये हैं—'पति आद्यगुण से युक्त है······' इत्यादि। इस सूत्र में पति का अर्थ है निरतिशय (सर्वोच्च) दृक्शक्ति और क्रिया शक्ति (देखें परि० ३) से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य का अर्थ है ऐसे ऐश्वर्य से संबद्ध होना जो (ऐश्वर्य) आगन्तुक या आकस्मिक न हो (प्रत्युत नित्य हो)—इसी प्रकार 'आदर्श' आदि ग्रन्थों के लेखक तीर्थंकरों (शास्त्रप्रवर्तकों) ने इसका निरूपण किया है।

चित्तद्वारेणेश्वरसंबन्धहेतुर्योगः (पाशु० सू० ५।२)। स च द्विविधः—क्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणश्चेति। तत्र जपध्या-नादिरूपः क्रियालक्षणः। क्रियोपरमलक्षणस्तु निष्ठासंविद्गत्या-दिसंज्ञितः।

चित्त (जीव के बोधात्मक गुणविशेष) के द्वारा [जीव का] ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को **योग** कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है—क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति वाला। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग (जीवेश्वर सम्बन्ध करानेवाला) है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं [क्योंकि इसमें कुछ काम करना पड़ता है।] क्रिया की निवृत्तिवाला योग वह है जिसकी संज्ञायें निष्ठा (महेश्वर में अविचल भक्ति), संवित् (तत्त्व-ज्ञान), गति (शरणागति) आदि हैं।

(६. विधि का निरूपण)

धर्मार्थसाधकव्यापारो विधिः। स च द्विविधः—प्रधानभूतो गुणभूतश्च। तत्र प्रधानभूतः साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या। सा द्विविधा—व्रतं द्वाराणि चेति। तत्र भस्मस्नानशयनोप-हारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्। तदुक्तं भगवता नकुलीशेन—भस्मना

*गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्। कर्म—सृष्टि, पालन, संहार।

त्रिषवणं स्नायीत, भस्मनि शयीत (पा० सू० १।८ अग्रतः) इति ।

अत्रोपहारो नियमः । स च षडङ्गः । तदुक्तं सूत्रकारेण—हसित-गीत-नृत्य-हुडुक्कार - नमस्कार-जप्यषडङ्गोपहारेणोपतिष्ठेतेति ।

धर्म (महेश्वर) रूपी अर्थ (लक्ष्य) की सिद्धि कराने के लिए (महेश्वर के समीप पहुँचाने के लिए) जो भी व्यापार या कर्म करें वह विधि है । [विधान होने के कारण इसे विधि कहते हैं ।] इसके दो भेद हैं—प्रधान विधि और गौण विधि । प्रधान विधि वह है जो साक्षात् धर्म का कारण हो, इसे चर्या भी कहते हैं । इसके भी दो भेद हैं—व्रत और द्वार । भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा—ये व्रत हैं । भगवान् नकुलीश ने कहा है—भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या) स्नान करे (लेपन करे), भस्म में ही शयन करे, इत्यादि ।

यहाँ उपहार का अर्थ है नियमों का पालन । इसके छह अंग हैं जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार (एक प्रकार की ध्वनि), नमस्कार और जप्य—इस षडंग उपहार के द्वारा पूजा करे ।

तत्र हसितं नाम कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनपुरःसरम् अहहेत्यट्टहासः । गीतं गान्धर्वशास्त्रसमयानुसारेण महेश्वरसंबन्धिगुणधर्मादिनिमित्तानां चिन्तनम् । नृत्यमपि नाट्यशास्त्रानुसारेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणादिकमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गसहितं भावाभावसमेतं च प्रयोक्तव्यम् । हुडुक्कारो नाम जिह्वातालुसंयोगान्निष्पाद्यमानः पुण्यो वृषनादसदृशो नादः । हुडुगिति शब्दानुकारो वषडितिवत् । यत्र लौकिका भवन्ति तत्रैतत्सर्वं गूढं प्रयोक्तव्यम् । शिष्टं प्रसिद्धम् ।

हसित (Laughter) का अर्थ है कण्ठ और ओष्ठपुटों को हिला-हिलाकर 'अहह' ध्वनि करते हुए अट्टहास करना । गान्धर्व-शास्त्र (संगीत विद्या) की परम्परा (समय = प्रसिद्धि, आचार, Convention) के अनुसार महेश्वर से सम्बद्ध गुण और धर्म आदि निमित्तों का चिन्तन करना ही गीत (Song) है । नाट्यशास्त्र (Science of Dramaturgy) के अनुसार हस्त-पादादि

का ऊपर फेंकना आदि अपने अंगों, प्रत्यंगों और उपांगों के साथ करें जिसमें भाव (आन्तरिक) का अभाव (हाव या अभिव्यक्ति) भी रहे, यही नृत्य है। [नाट्यशास्त्र के नियमों से नृत्य को सीमित करना अनिवार्य है। हस्तोत्क्षेपण, पादोत्क्षेपण आदि की भी विभिन्न मुद्रायें हैं जिनमें हृदय की भावनायें बाह्य मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। इनका विस्तृत विवरण भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। नृत्य के आचार्य स्वयं महेश्वर हैं जिनका नाम नटराज भी है अतः इनकी प्रसन्नता के लिए नृत्य की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।] हुडुक्कार उस नादविशेष को कहते हैं जो वृषभ (साँड़) की आवाज की तरह का है तथा जिह्वा और तालु (चवर्ग का उच्चारणस्थान) के संयोग से उत्पन्न होनेवाला जो पुण्यप्रद शब्द है। 'हुडुक्' शब्द वास्तव में 'वषट्' की तरह ही [एक अव्यक्त] ध्वनि का अनुकरण करनेवाला शब्द है।

जहाँ पर लौकिक पुरुष (सामान्य जन) विद्यमान रहें, वहाँ पर इन सबों का प्रयोग गुप्त रूप से करना चाहिए [क्योंकि प्रत्यक्षतः लोगों के सामने करने पर लोग 'मूर्ख' कहकर उपासक को अपने व्रत से भ्रष्ट कर दे सकते हैं। इसलिए व्रतचर्या को गोपनीय रखें या एकान्त में ही ये सब किया करें। एकान्तता ही रखने के लिए क्राथनादि द्वारचर्याओं की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें हम इसके बाद देखेंगे।] अवशिष्ट [दोनों व्रतचर्यायें—जप और नमस्कार] तो प्रसिद्ध ही है।

द्वाराणि तु क्राथन-स्पन्दन-मन्दन-शृङ्गारणावितत्करणावितद्भाषणानि। तत्रासुप्तस्यैव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनम्। वाय्वभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनम् स्पन्दनम्। उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनम् मन्दनम्। रूपयौवनसम्पन्नां कामिनीमवलोक्यात्मानम् कामुकमिव यैर्विलासैः प्रदर्शयति तत् शृङ्गारणम्।

द्वारचर्यायें (बाह्य प्रदर्शन के योग्य मुद्रायें) ये हैं—क्राथन (खर्राटे भरना Snoring), स्पन्दन (देह कँपाना Trembling), मन्दन (लड़खड़ाकर चलना Limping), शृंगारण (विलास का प्रदर्शन), अवितत्करण (उलटा-सीधा काम करना) और अवितद्भाषण (अनाप-शनाप बकना Nonsense talks)।

बिना नींद आये ही (जगे हुए ही) सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टायें (आँखें बन्द करना, खर्राटे भरना आदि) प्रदर्शित करना **क्राथन** है। वायुरोग

से अभिभूत व्यक्ति की भाँति अपने शरीर के अंगों को कँपाना **स्पन्दन** कहलाता है। टूटे हुए पैर वाले व्यक्ति की तरह लड़खड़ा कर चलना **मन्दन** है। रूप (सौन्दर्य) और यौवन से संपन्न किसी कामिनी को देखकर अपने को कामुक के समान प्रदर्शित करते हुए (साधक) जब कामुकों के योग्य जिन-जिन विलासों का प्रदर्शन करता है वे **शृंगारण** हैं। (दे० पा० सू० ३।१२-१७) [वास्तव में उपासक इन दोषों से मुक्त है किन्तु लोगों को अपने पास से अलग करने के लिए वह उक्त चेष्टायें दिखलाता है। अभी भी बहुत से ऐसे साधक भारत में विद्यमान हैं।]

कार्याकार्यविवेकविकलस्येव लोकनिन्दितकर्मकरणमवितत्करणम्। व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणमवितद्भाषणमिति।

गुणभूतस्तु विधिश्चर्यानुग्राहकोऽनुस्नानादिः भैक्ष्योच्छिष्टादिनिमित्तायोग्यताप्रत्ययनिवृत्त्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकारेण—अनुस्नाननिर्माल्यलिङ्गधारीति।

कर्तव्य और अकर्तव्य की विवेचना करने में असमर्थ व्यक्ति की तरह लोगों के द्वारा निन्दनीय कर्म करना **अवितत्करण** है। परस्परविरोधी, निरर्थक आदि शब्दों को बकते फिरना **अवितद्भाषण** कहलाता है। [इस प्रकार प्रधान विधि का वर्णन समाप्त हुआ।]

चर्या के अनुग्राहक (सहायक) अनुस्नान आदि को गौण विधि कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न-भोजन, उच्छिष्ट-भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अयोग्यता (अपवित्रता) आ जाती है उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है। सूत्रकार ने यह भी कहा है—अनुस्नान, निर्माल्य और लिंग का धारण करनेवाला [पवित्र होता है]।

विशेष—प्रधान विधि (या चर्या) का पालन अपवित्र अवस्था में नहीं किया जाता। भोजन के अनन्तर बिना स्नान किये हुए उच्छिष्टादि अन्नजनित दोष रहते हैं। अतः अपवित्र दशा में योग्यता के अभाव में चर्या का अधिकार नहीं रहता। मल-मूत्र-त्याग के बाद भी वही बात है। यह अपवित्रता अनुस्नान आदि गौण विधियों से दूर की जा सकती है। अनुस्नान स्नान का प्रतिनिधि है जिसमें जलस्पर्श, आचमन, भस्मस्नान आदि हैं। व्रतों में पढ़ा गया भस्मस्नान तीनों कालों में विहित है, वह नित्य है जब कि यहाँ का भस्मस्नान नैमित्तिक (Occasional) है। अनुस्नान के अनन्तर पवित्र होकर निर्माल्य

और भस्म धारण करें। जब तक ये शरीर में हैं तब तक उपासक अपवित्र नहीं हो सकता। तन्त्रसार में कहा है—निर्माल्यं शिरसा धार्यं सर्वाङ्गे चानुलेपनम्।

(७. समासादि पदार्थ और अन्य शास्त्रों से तुलना)

तत्र समासो नाम धर्मिमात्राभिधानम्। तच्च प्रथमसूत्र एव कृतम्। पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः। स खलु राशीकरभाष्ये द्रष्टव्यः। एतेषां यथासम्भवं लक्षणतोऽसङ्करेणाभिधानं विभागः। स तु विहित एव।

[ऊपर सर्वज्ञत्व का लक्षण करते हुए समास, विस्तर, विभाग और विशेष जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया था। अब उन शब्दों की व्याख्या की जाती है।] केवल धर्मियों (पदार्थों) का नाम भर ले लेना **समास** कहलाता है। ऐसा प्रथम सूत्र में ही किया गया है [कि पाँचों पदार्थों का चतुराई से नाम ले लिया गया है]। पाँचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप में विस्तारपूर्वक (पञ्च = विस्तार) नाम लेना **विस्तर** है। इसे राशीकर-भाष्य (संभवतः कौण्डिन्य-भाष्य) में देखना चाहिए। इन सबों का यथासंभव लक्षण दिखलाते हुए, एक दूसरे पदार्थ से बिना मिलाये हुए (स्पष्ट रूप से), वर्णन करना **विभाग** कहलाता है। इसका विधान तो इस शास्त्र में हुआ ही है।

शास्त्रान्तरेभ्योऽमीषां गुणातिशयेन कथनं विशेषः। तथा हि—अन्यत्र दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः। इह तु पारमैश्वर्यप्राप्तिश्च। अन्यत्राभूत्वा भावि कार्यम्। इह तु नित्यं पश्वादि। अन्यत्र सापेक्षं कारणम्। इह तु निरपेक्षो भगवानेव। अन्यत्र कैवल्यादिफलको योगः। इह तु पारमैश्वर्यदुःखान्तफलकः। अन्यत्र पुनरावृत्तिरूपस्वर्गादिफलको विधिः। इह पुनरपुनरावृत्तिरूपसामीप्यादिफलकः।

दूसरे शास्त्रों (न्याय आदि) से इस शास्त्र में कथित इन पदार्थों के गुणों के पार्थक्य का वर्णन करना **विशेष** कहलाता है। [पाशुपत शास्त्र में जिन पाँच पदार्थों का वर्णन हुआ है उनके लक्षण दूसरे शास्त्रों में पृथक् रूप में दिये गये हैं। इस शास्त्र के लक्षणों से उन लक्षणों की तुलना करके अपने लक्षणों को श्रेष्ठ सिद्ध करना ही विशेष कहलाता है। स्मरणीय है कि सर्वज्ञ पाँचों पदार्थों को

समास, विस्तर, विभाग और विशेष के साथ ही जानता है। अब अन्य शास्त्रों से अपने शास्त्र की विशेषतायें बतलाई जायेंगी।]

उदाहरणतः, (१) दूसरे शास्त्रों में दुःख से मुक्त हो जाना ही दुःखान्त (Liberation मोक्ष) है किन्तु अपने (पाशुपत) शास्त्र में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है। (२) दूसरे शास्त्रों में कार्य वह है जो पहले विद्यमान न हो पीछे [कारकादि के व्यापारों (प्रयासों) से] उत्पन्न हो (अर्थात् कार्य अनित्य है)। किन्तु अपने शास्त्र में पशु आदि नित्य पदार्थों को कार्य कहते हैं। (३) अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष होता है (जैसे वेदान्त में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने वाला ईश्वर) जब कि इस शास्त्र में निरपेक्ष भगवान् ही कारण होता है। (४) दूसरे शास्त्रों में योग वह है जो कैवल्य की प्राप्ति करा दे (जैसे योगशास्त्र में कहा गया है कि जब चेतन बुद्धि आदि उपाधियों से रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तब पुरुष को कैवल्य मिलता है जो योग से संभव है)। इस शास्त्र में योग उसे कहते हैं जो परम ऐश्वर्य से युक्त दुःखान्त (मोक्ष) देता है। (५) अन्य शास्त्रों में (जैसे मीमांसा में) विधि वह है जो स्वर्ग आदि ऐसा फल प्रदान करे जिस (फल) को आवृत्ति (निवृत्ति) फिर हो जाय, लेकिन इस शास्त्र में विधि से सामीप्य आदि फल मिलता है जिसका नाश संभव नहीं। [ईश्वरसामीप्य पाकर फिर वहाँ से लौटना नहीं है, मीमांसा की विधियों के अनुसार काम करने के बाद स्वर्गफल मिलता है किन्तु वह क्षणिक होता है—पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में आना ही पड़ता है।]

विशेष—पाशुपत-शास्त्र का 'विशेष' बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शनों का विशेष व्यक्त करते तो बड़ा ही सुन्दर होता। विज्ञापन और पदार्थज्ञान दोनों का अभूत समन्वय होता। यह विशेष पाशुपत-दर्शन को विशिष्ट भूमि पर स्थापित करता है जिससे अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा पाशुपत शास्त्र की अपनी विशेषतायें स्पष्ट व्यक्त होती हैं।

(८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता)

ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः परमेश्वरः कारणमिति। तथात्वे कर्मवैफल्यं सर्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्।

मैवं मन्येथाः। व्यधिकरणत्वात्। यदि निरपेक्षस्य भगवतः कारणत्वं स्यात्तर्हि कर्मणो वैफल्ये किमायातम्? प्रयोज-

नाभाव इति चेत्—कस्य प्रयोजनाभावः कर्मवैफल्ये कारणम् ? किं कर्मिणः, किं वा भगवतः ?

यह शंका होती है कि यह बहुत बड़ा इन्द्रजाल (झूठी बात, इन्द्रियों की भ्रान्ति, ईश्वर की माया) है कि निरपेक्ष (Absolute) परमेश्वर को [पाशुपत दर्शन में] कारण मानते हैं क्योंकि ऐसा करने पर दो दोष उत्पन्न होंगे—सभी कर्म निष्फल होंगे तथा सभी कार्य एक साथ ही उत्पन्न होने लग जायँगे। [यदि ईश्वर निरपेक्ष या बिल्कुल स्वतन्त्र होकर कार्य करता है तब तो प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले धर्म या अधर्म का बिना विचार ही किये फल देता होगा। ऐसी दशा में पुण्य या पाप कर्म तो व्यर्थ ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में हाथ न बँटाने के कारण सभी कार्य अपने-आप एक ही साथ उत्पन्न होने लगेंगे। दूसरी ओर यदि ईश्वर को सापेक्ष मान लें तो ये कठिनाइयाँ स्वयं सहल हो जायँ क्योंकि ईश्वर के द्वारा सुख-दुःख का संपादन होगा और कर्मों की सफलता मानी जायगी। यदि सभी कर्म एक साथ नहीं किये जायँगे तो उनकी फलप्राप्ति भी एक साथ नहीं होगी। यही कारण है कि वेदान्त में ईश्वर को धर्माधर्मापेक्षी मानते हैं। (ब्र० सू० २।१।३४)]

पाशुपत-दर्शनवाले कहते हैं कि आप लोग ऐसा न समझें क्योंकि दोनों के (ईश्वर और प्राणियों के) कार्यक्षेत्र के आधार अलग-अलग हैं। [प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट प्राणियों पर ही आधारित है। संसार की उत्पत्ति का व्यापार ईश्वर पर आधारित है। दूसरी जगह का अदृष्ट दूसरी जगह के व्यापार पर कैसे अपनी छाप दे सकता है ? संसारोत्पत्ति और कर्मफल बिल्कुल पृथक् हैं—एक को दूसरे से क्या लेना देना ? अतः निरपेक्ष ईश्वर को ही कारण बनाना ठीक है।]

यदि निरपेक्ष भगवान् को ही संसार का कारण मानें और कर्म की विफलता माननी पड़े तो क्या आपत्ति है (क्या फल पड़ेगा) ? यदि आप कहें कि ऐसा करने से कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा, तो हम फिर पूछेंगे कि कर्म को विफल मानने में कारणस्वरूप किसका प्रयोजनाभाव रहेगा ? क्या कर्म करनेवाले प्राणी के प्रयोजन का अभाव कर्म की विफलता का कारण होगा या भगवान् (संसारोत्पादक) के प्रयोजन का अभाव ?

नाद्यः। ईश्वरेच्छानुगृहीतस्य कर्मणः सफलत्वोपपत्तेः। तदननुगृहीतस्य ययातिप्रभृतिकर्मवत् कदाचिन्निष्फलत्वसंभवाच्च। न

चैतावता कर्मसु अप्रवृत्तिः। कर्षकादिवदुपपत्तेः। ईश्वरेच्छायत्तत्वाच्च पशूनां प्रवृत्तेः।

पहला विकल्प (कि कर्म करने वाले प्राणी की प्रयोजन-शून्यता कर्मवैफल्य का कारण है) तो हो ही नहीं सकता। ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत होने (Supported) पर ही कर्म की सफलता निर्भर करती है। ईश्वर की इच्छा से संपादित न होने पर कभी-कभी ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म भी निष्फल हो जा सकते हैं। [ईश्वर तो कर्म से निरपेक्ष रहकर ही जगत्कारण बनता है किन्तु कर्म को हरेक दशा में ईश्वरसापेक्ष होना पड़ता है। कृषि-कर्म में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मेघ पर निर्भर है किन्तु मेघ कृषि-कर्म से निरपेक्ष है। जीव तीन प्रकार का कर्म करता है—कुछ कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, कुछ कर्मों से क्रुद्ध होता है और कुछ कर्मों पर उदासीन रहता है। प्रथम दो कर्म तो फल देते ही हैं, भले ही वह अच्छा फल हो या बुरा। किन्तु अन्तिम कर्म निष्फल होता है। जिस कर्म को वह अनुगृहीत या स्वीकार नहीं करता उसका फल नहीं मिलता। फिर भी इससे कोई क्षति नहीं है।] इससे (कर्म के निष्फल होने पर) भी कर्मों में अप्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि किसान आदि के उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है। [आशय यह है कि जहाँ ईश्वर उदासीन रहता है उन कर्मों का फल नहीं मिलता। परन्तु यह कोई पहले से नहीं जानता कि इस कर्म के प्रति ईश्वर उदासीन है। परिणाम यह होता है कि कर्म के निष्फल होने पर लोग फिर से उसके सम्पादन में लगते हैं। खेती खराब हो जाने पर भी किसान उसमें फिर लगता है—उसे यह ज्ञान कहाँ कि खेती फिर खराब होगी। यदि कोई पहले से कर्मवैफल्य का ज्ञान रखे तब तो उसे करेगा ही नहीं। इसलिए यह कहना कि प्राणी का प्रयोजनाभाव ही कर्मवैफल्य का कारण है, ठीक नहीं। प्राणी में प्रयोजन (लक्ष्य motive) रहने पर भी तो कर्म निष्फल हो जाता है। ईश्वर की इच्छा पर ही कर्म निर्भर करते हैं। स्मरण रखना है कि फलदान के दो स्रोत हैं—ईश्वर और कर्म। ईश्वर के द्वारा दिये गये फल में कर्म की अपेक्षा नहीं है जब कि कर्म के द्वारा मिलनेवाले फल में ईश्वर की अपेक्षा रहती है। न तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही होती है और न जीव की अप्रवृत्ति ही देखी जाती।]

नापि द्वितीयः। परमेश्वरस्य पर्याप्तकामत्वेन कर्मसाध्यप्रयोजनापेक्षाया अभावात्। यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति, तदप्ययुक्तम्। अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधा-

यिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं सम्प्रदायविद्भि :—

९. कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम् ।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम् ।। इति ।

दूसरा विकल्प (कि ईश्वर में प्रयोजन न होना ही कर्म की विफलता का कारण है) भी ठीक नहीं है। परमेश्वर को सारी कामनायें परिपूर्ण हैं अतः कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रयोजन को उसे अपेक्षा नहीं रहती। [ईश्वर कर्मनिरपेक्ष है, कर्म सम्बन्धी कोई भी इच्छा उसमें नहीं है। इस प्रकार कर्म की विफलता का कोई कारण नहीं है। निरपेक्ष ईश्वर की कारणता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

दूसरा आरोप जो यह लगाया गया है कि सभी कार्यों का उत्पादन एक ही साथ होने लगेगा यह भी ठीक नहीं है। परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रियाशक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। संप्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—

'चूँकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करनेवाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया है।'

(१०. ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति)

ननु दर्शनान्तरेऽपीश्वरज्ञानान्मोक्षो लभ्यत एवेति कुतोऽस्य विशेष इति चेत्—मैवं वादीः। विकल्पानुपपत्तेः। किमीश्वर-विषयज्ञानमात्रं निर्वाणकारणं किं वा साक्षात्कारः अथ वा यथा-वत्तत्त्वनिश्चयः ?

नाद्यः। शास्त्रमन्तरेणापि प्राकृतजनवद् 'देवानामधिपो महादेवः' इति ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्षसिद्धौ शास्त्राभ्यासवैफ-ल्यप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः। अनेकमलप्रचयोपचितानां पिशितलोचनानां पशूनाम् परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्तेः।

कोई यह पूछ सकते हैं कि दूसरे दर्शनों में भी तो ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष मिलता ही है, इस पाशुपत-दर्शन में क्या विशेषता है ? हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। नीचे दिये गये विकल्पों में [किसी के द्वारा भी तुम्हारी बात] सिद्ध नहीं

होगी। निर्वाण या मोक्ष का कारण वास्तव में क्या है—ईश्वर के विषय में केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना या उसका साक्षात्कार (दर्शन) करना या यथार्थ रूप से (जैसी वस्तुस्थिति है वैसे) तत्त्वों का निर्णय करना ?

पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि बिना शास्त्र के भी साधारण व्यक्तियों की तरह, 'महादेव देवताओं के राजा हैं' केवल इसी ज्ञान की उत्पत्ति से ही मोक्ष की सिद्धि हो जायगी, शास्त्रों का अभ्यास करना निष्फल है।

दूसरा विकल्प भी नहीं ही ठीक है। अनेक प्रकार के मलों के समूह से भरे हुए तथा मांस की आँखोंवाले पशु (जीव) परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकेंगे, यह असम्भव है।

तृतीयेऽस्मन्मतापातः। पाशुपतशास्त्रमन्तरेण यथावत्तत्त्वनिश्चयानुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः—

१०. ज्ञानमात्रे वृथा शास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्त्वनिश्चयः॥ इति।

तस्मात्पुरुषार्थकामैः पुरुषधौरेयैः पञ्चार्थप्रतिपादनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयणीयमिति रमणीयम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे
नकुलीशपाशुपतदर्शनम्॥

तीसरे विकल्प को स्वीकार करने पर तो फिर हमारे ही दर्शन में आना पड़ेगा। पाशुपतशास्त्र के बिना तत्त्वों का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी बात को आचार्यों ने इस प्रकार कहा है—'यदि ज्ञान मात्र से [मोक्ष मिलता है] तो शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना दुर्लभ ही है; तत्त्वों का यथार्थ निश्चय पञ्चार्थ (पाँच पदार्थों का प्रतिपादक पाशुपत शास्त्र) के बिना हो ही नहीं सकता' इसलिए पुरुषार्थ की कामना करनेवाले उत्तम पुरुषों को पाँच पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले पाशुपत-शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए—यही अच्छा है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
नकुलीश-पाशुपत-दर्शन [समाप्त हुआ।]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां
व्याख्यायां नकुलीशपाशुपतदर्शनमवसितम्॥